अनन्तर/ जनसत्ता/ 7 अक्तूबर, 2007

हाय पंचनद! हा पानीपत!

ओम थानवी

जीवट हो तो डॉ. ओमप्रकाश सिंह जैसा। अपोलो अस्पताल में गहन चिकित्सा कक्ष में लेटे-लेटे हिंदी आलोचना के पितामह आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आठ खंडों की ग्रंथावली का काम उन्होंने अंजाम तक पहुंचा दिया।

गुरुवार को, आचार्य शुक्ल के जन्मदिन पर, ग्रंथावली का लोकार्पण था। डॉ. नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह, अशोक वाजपेयी और डॉ. मैनेजर पांडेय जैसे विद्वानों की मौजूदगी में एक सार्थक आयोजन। अनर्थ एक ही था। पांचवां वक्ता मैं था। नामी कवि-आलोचकों के बीच एक पाठक की जगह का औचित्य न मैं समझ सकता था, न कोई और। हर बुलावे पर ना कहने का आदी होने के बावजूद प्रकाशन संस्थान के हरिश्चंद्र शर्मा के इसरार के सामने झुक गया। उनसे कोई तीन दशकों का राब्ता है, इतवारी पत्रिका के दिनों से।

मैंने अपनी बात के शुरू में ही कह दिया कि साहित्य के पाले में नहीं जाऊंगा। पर ग्रंथावली पढ़ते हुए शुक्लजी के मानस, उनके सामाजिक-राजनीतिक सरोकारों को लेकर जो सवाल मथते हैं, उन्हें जरूर सामने रखूंगा। रख दिए। विद्वज्जन उन पर चुप रहे। नामवर जी पहले बोल चुके थे। मैनेजर पांडेय ने कहा कि लोकार्पण खुशी का मौका है, इसलिए बाकी चर्चा आगे होगी।

हिंदी में यही कुछ मुश्किल है। आमने-सामने शिष्टाचार रहता है। पीछे टीका-टिप्पणी। यों भी मूर्ति गढ़ दिए जाने के बाद नमन हमारे यहां कायदा बन जाता है।

आचार्य शुक्ल की आलोचना पहले मैंने छिटपुट पढ़ी थी। ग्रंथावली में सारी चीजें व्यवस्थित मिल गईं। सुसंपादित भी। शुक्लजी के विशद ज्ञान से कोई भी चमत्कृत होगा। उस पर उनकी अनूठी विश्लेषण क्षमता। वास्तविक अर्थ में वे हिंदी के पहले आलोचक थे। बीसवीं सदी के शुरू में इतनी गहराई कितने लोगों में रही होगी। उनकी हिंदी बहुत सुलझी हुई थी। और तत्सम शब्दावली के बावजूद सरस भी।

यह सहज बोध हमें इसलिए होता है, क्योंकि आजकल ज्यादातर आलोचकों की भाषा बहुत बनावटी और बोझिल होती है। ध्यातव्य-ज्ञातव्य और अपितु-अस्तु वाली भाषा में उनका मंतव्य कभी-कभी दो बार पढ़ने पर भी समझ नहीं पड़ता। शुक्लजी की भाषा हिंदी की शब्दशक्ति का जीता-जागता उदाहरण है। भले ही वे नई भाषा के हक में नहीं थे।

यों तो आचार्य शुक्ल ने कविता की और उपन्यास, जीवनी, लेख आदि भी लिखे। लेकिन जो चीजें उनकी विद्वत्ता का कायल करती हैं- मुझे ही क्यों, तमाम हिंदी समाज को- वे कृतियां हैं 'रसमीमांसा', हिंदी साहित्य का इतिहास और जायसी, सूरदास और तुलसीदास पर उनकी टीका। सौंदर्यशास्त्र का उनका विवेचन हर दृष्टि से अद्वितीय ठहरेगा। अंग्रेजी कवियों, आलोचकों, साहित्यिक प्रवृत्तियों और पश्चिमी दर्शन और विज्ञान तक को वे हिंदी संसार के करीब लाए। हिंदी में उन्होंने मराठी, बांग्ला की रचनाओं के अनुवाद भी किए। वे प्रकृति-प्रेमी थे। इसका आभास उनके लेखन में झलक आता है।

लेकिन दो बातें हैं, जिनको लेकर मेरे मन में दुविधा खड़ी हुई। एक तो यह कि आचार्य शुक्ल हिंदी को हिंदुओं की और उर्दू को मुसलमानों की, यहां तक कि विदेशी जुबान क्यों मानते थे? यहां तक कि वे आमफहम या सरल हिंदी से भी चिढ़ते थे। हालांकि आज की आलोचना को देखते निश्चय ही उनकी अपनी हिंदी- सम्मानजनक अर्थ में- बहुत सरल मानी जाएगी। दूसरे, स्वराज और असहयोग आंदोलन तक को लेकर वे ''मिस्टर गांधी'' के खिलाफ क्यों थे, जिन्होंने एकता के प्रयासों में हिंदी-उर्दू को नजदीक लाने का जतन किया?

कहीं समझने में चूक न हुई हो, इसलिए ग्रंथावली से मैं बहुत-से प्रासंगिक उद्धरण सामने रखना चाहता हूं।

सबसे पहले सन 1907 में आचार्य शुक्ल ने अपेक्षया उदार नजरिए के साथ 'आनंद कादंबिनी' में एक लेख लिखा था- अपनी भाषा पर विचार। लेख के शुरू में उन्होंने माना कि स्थानीय भाषा के अधीन रहकर काम करें तो सीमित संख्या में अरबी-फारसी के विदेशी शब्द हिंदी के लिए हानिकारक नहीं होंगे। मगर, हिंदी को उन्होंने हिंदू धर्म से जोड़ा, ''राजा शिवप्रसाद ('आमफहम' हिंदी के हिमायती एक शिक्षा अधिकारी) मुसलमानी हिंदी का स्वप्न ही देखते रहे कि भारतेंदु ने स्वच्छ आर्य हिंदी की शुभ्र छटा दिखाकर लोगों को चमत्कृत कर दिया। लोक चकपका उठे, यह बात उन्हें प्रत्यक्ष देख पड़ी कि यदि हमारे प्राचीन धर्म्म, गौरव और विचारों की रक्षा होगी तो इसी भाषा के द्वारा।... भाषा ही जाति के धार्मिक और जातीय विचारों की रक्षिणी है...।''

धर्म से संबद्ध उनका भाषिक आग्रह चलते में छिड़ा संदर्भ नहीं था। उन्होंने उस पर लेख में आगे जोर दिया- ''यहां पर एक बात स्पष्ट रूप से कह देना चाहते हैं। हम हिंदू हैं, हिंदुस्तान हमारा देश है, हिंदी हमारी भाषा है। इस भाषा में अवश्यमेव हिंदुओं के आचार-विचार का आभास रहेगा, इसमें अवश्य उनके प्राचीन गौरव की गंध रहेगी- कुढ़ने वाले भले ही कुढ़ें। वह सहायता के लिए भरसक संस्कृत ही का मुंह देखेगी। मुट्ठी भर मुसलमानों के लिए हम कदापि अपनी भाषा को लांछित न करेंगे। यदि मुसलमान लोग उसे नहीं समझना चाहते तो न समझें, हमारी कोई हानि नहीं। मुसलमान लोग तो तनिक भी शीन काफ के बाहर न हों और हम भोंदू बने उनके पास खसकते जाएं। ऐसी कौन सी आफत आई है।''

फिर 1908 में, उन्होंने एक अंग्रेज फ्रेडरिक पिन्कॉट (जिन्होंने लंदन में रहते और पुस्तिकाओं के साथ हिंदी में 'विक्टोरिया चरित' का प्रकाशन किया था) के एक लेख को उद्धृत कियाः ''हिंदी के अंतर्गत कितनी ही बोलियां हैं। पर इन बोलियों का समग्र समुदाय एक ही भाषा है। यही भाषा है जिसमें फारसी विजेताओं ने बहुत से फारसी शब्द मिलाकर एक दोगली भाषा उत्पन्न कर दी, जो उर्दू या हिंदुस्तानी कहलाती है। सरकारी दफ्तरों और कचहरियों को छोड़कर इस भाषा का अन्यत्र कहीं अस्तित्व नहीं है। उत्तरी भारत की भाषा हिंदी है। वही वहां की 'लिंगुआ फ्रांका' है। हिंदुस्तान में यह विलक्षण दृश्य देखने में आता है कि राजा और प्रजा राजकीय कार्य को एक ऐसी भाषा में संपादन करते हैं जो दोनों के लिए विदेशी है।''

महावीर प्रसाद द्विवेदी के संपादन में निकलने वाली पत्रिका 'सरस्वती' में पिन्कॉट के योगदान पर प्रकाशित उस लेख में शुक्लजी ने- जिनकी अपनी तालीम उर्दू में शुरू हुई- उर्दू को मुसलमानों की भाषा करार दियाः ''... आरंभ से ही उन्हें (मुसलमानों को) करीमा न रटाया गया होता तो उर्दू उनके श्रीमुख से कदापि न सुन पड़ती। जनाब, यह उर्दू आप अपनी मां की गोद से लेकर नहीं उतरते हैं। किंतु मौलवी साहब के मकतब में आपने उसे सीखा है। यदि आज से लड़के मदरसों में हिंदी की उपयुक्त शिक्षा पाने लगें और अंगरेजी के साथ अपनी दूसरी भाषा संस्कृत लेने लगें तो थोड़े ही दिनों में वह उर्दू, जिसको आप आमफहम कहते हैं, हवा हो जाय और उसके स्थान पर गली-गली वही शुद्ध परिष्कृत हिंदी, जिसको सुनकर आप इतना चौंकते हैं, सुनाई देने लगे।''

एक साल बाद नागरी प्रचारिणी पत्रिका में 'उर्दू राष्ट्रभाषा' शीर्षक से उनका एक और लेख प्रकाशित हुआ। यह लेख हैदराबाद में युवकों की एक सभा में डॉ. निशिकांत चटर्जी के उस भाषण की प्रतिक्रिया में था, जिसमें देश में मिली-जुली भाषा 'उर्दू' के राष्ट्रभाषा होने पर बल दिया गया था। शुक्लजी ने लिखा- ''देश में उर्दू फैलाना मानो एक तरह से मूर्खता फैलाना है, किसी उर्दू पंडित ने कुछ दिन हुए इतिहास की एक पुस्तक लिखी। उसमें मौर्यवंश का जिक्र करते हुए आपने लिखा- यह खानदान

मोरिया इसलिए कहलाया कि उसके झंडों पर मोर का निशान बना रहता था। उर्दू द्वारा ऐसे ही लोगों की सृष्टि होगी?'' अज्ञान के प्रदर्शन से भाषा का क्या लेना-देना है, कोई जरा समझाए!

आचार्य ने भाषा के विवाद में यहां भी धर्म का स्मरण किया- ''(मिली-जुली भाषा में) हिंदुओं के कोई भाव नहीं हैं। इसमें उनके धार्मिक शब्द तक नहीं, उनके पूर्व पुरुषों की अधिक चर्चा नहीं।... हमारी बहुत-सी ऐसी गृहस्थ चीजें हैं जिनका नाम लेना भी उर्दू को नापसंद है। हमारे जीवन से इस भाषा का कोई लगाव नहीं।'' लेख में फारसी लिपि पर भी कटाक्ष किया गया था, यह कहते हुए कि उनका अच्छा टाइप तक नहीं ढल सकता।

कोई छुपी बात नहीं थी कि उर्दू खड़ी बोली के व्याकरण और क्रिया-पदों के आधार पर विकसित हुई। वह शुरू में शास्त्रीय या शुद्ध भाषा न जानने वालों की बोली बनी। बाद में साहित्य रचना के साथ अलग भाषा के रूप में उसकी प्रतिष्ठा हो गई। आचार्य शुक्ल ने जब उर्दू के खिलाफ कमर कसी, तब उसमें मीर, सौदा, गालिब, जौक या नजीर अकबराबादी जैसे ढेर शायरों का काव्य समाज में व्यापक प्रतिष्ठा अर्जित कर चुका था।

उर्दू में लिखने वाले हिंदू शायरों की तादाद भी कम न थी। शाहजहां के दरबार के पं. चंद्रभान बिरहमिन से लेकर विश्वेश्वर परशाद 'मुनव्वर' लखनवी, नौबतराय 'नजर', पं. दयाशंकर 'नसीम', त्रिलोकचंद 'महरूम', बालमुकुंद 'बेसब्र', पं. बृजनारायण 'चकबस्त', हरगोपाल 'तफ्ता', गोरख परशाद 'इबरत' (फिराक गोरखपुरी के पिता) आदि खूब जाने-माने नाम थे। गालिब के पत्राचार में उनके अनेक हिंदू दोस्तों और शागिर्दों की जानकारी मिलती है।

दरअसल, देश की कई रियासतों में हिंदू परिवारों में उर्दू पढ़ी और बोली जाती थी। सारे मुसलमान उर्दू बोलते हों, ऐसा भी नहीं था। उत्तर प्रदेश-बिहार तक में बड़े शहरों से हटते ही स्थानीय बोलियां शुरू हो जाती थीं। राही मासूम रजा के उपन्यास 'आधा गांव' का एक दिलचस्प प्रसंग याद आता है। अलीगढ़ से आए एक पढ़े-लिखे युवक की भाषा गांव वाले समझ तक नहीं पाते। एक औरत झटक कर टिप्पणी करती है- ये तो पतुरियन की भाषा बोलत है!

'बंगदेश' का हवाला शुक्लजी ने खुद दिया है कि वहां मुसलमान स्वजातीय लोगों को बंगला छोड़कर उर्दू अपनाने की सलाह दे रहे थे। असल में बंगाल ही नहीं, गुजरात, केरल, कर्नाटक आदि अनेक प्रदेशों के मुसलमान अपने प्रदेशों की भाषा बोलते थे, उर्दू नहीं। यह इतिहास का तथ्य है कि बांग्लादेश को वहां के मुसलमानों ने उर्दू के खिलाफ लड़ते हुए हासिल किया। पूर्वी बंगाल पाकिस्तान में शामिल हुआ तो 'राष्ट्रभाषा' उर्दू उन पर जबरन थोपी गई। पर इसमें हुकूमत में बिलकुल सफलता नहीं

मिली। मैंने ढाका जैसे बड़े शहर में खुद देखा कि रिक्शे वाले से उर्दू में मामूली संवाद तक नहीं किया जा सकता। उर्दू के मशहूर से मशहूर शायर को वहां कोई पढ़ना नहीं चाहता।

उधर, पाकिस्तान बने भूभाग में कितने मुसलमान उर्दू बोलते थे? असल में आज भी वहां की प्रमुख भाषाएं पंजाबी, सिंधी और पश्तो हैं। कराची में उर्दू थोपने के खिलाफ खूनी दंगे हुए थे। आंदोलनकारियों का तब नारा था- ''उर्दू का जनाजा है, जरा धूम से निकले।'' यह भी हकीकत है कि अल्लामा इकबाल और 'फैज' जैसे महान शायर उर्दू लिखते थे, पर उनकी बोलचाल की भाषा पंजाबी थी। ऐसे ही भारत में बड़ा हिंदू समुदाय घर में स्थानीय भाषा बोलता था। परिष्कृत हिंदी थोड़े लोगों की भाषा थी।

इस सच्चाई के बावजूद आचार्य शुक्ल का नजरिया न सिर्फ यथावत रहा, आगे उन्होंने अपने लेखों में धर्म के साथ चरित्र को भी भाषा से जोड़ दिया। नागरी प्रचारिणी पत्रिका में उन्होंने 1910 में लिखाः ''... पुराने ढर्रे के केवल फारसी-उर्दू की तालीम पाए हुए लोगों का गार्हस्थ बंधन बहुत ढीला देखा गया है, धर्मानुकूल पवित्र प्रणय का निर्वाह उनमें बहुत कम देखा गया है। इस प्रकृति के प्रभेद का सोचनीय प्रभाव हम बहुतेरे घरानों में अब तक देख रहे हैं।... दोष अपनी हिंदी भाषा से उदासीन कुछ पुरुषों का है।''

समाज में उर्दू का प्रसार रोकने के लिए उन्होंने धार्मिक संगठनों को सक्रिय होने का आह्वान तक कर डाला- ''सनातन धर्म और आर्य समाज के प्रचारकों से भी हमारी इतनी प्रार्थना है कि वे अब हिंदी की उन्नति के उपायों को अपनी कार्यावली में सम्मिलित करें।''

इस बीच उर्दू और हिंदी के समर्थकों के बीच रस्साकशी और तेज हो गई। शुक्लजी ने उर्दू को भाषा मानने से इंकार कर दियाः ''... बुराई और अधिक गहराई में अर्थात खुद उर्दू भाषा में है। जिस भाषा के पास अपना भाषाशास्त्रीय इतिहास न हो, निश्चय ही वह भाषा नाम की अधिकारिणी नहीं हो सकती।... ऐसे ज्ञान को बड़ी कठिनाई से भाषा ज्ञान कहा जा सकता है, यह प्रायः अज्ञानता के समरूप है।''

हिंदी के विरुद्ध ''पवित्र जेहाद'' का जिक्र करते हुए शुक्लजी ने उर्दू-समर्थकों के ''धूर्ततापूर्ण'' प्रश्नों का जवाब दिया। अदालतों में हिंदी के प्रवेश की- जाहिर है, जायज मांग- को न मानने वालों के बारे में वे कहते हैं कि 'हमारे मुसलमान मित्र ऐसा समझौता नहीं चाहते हैं। वे हमसे अपनी भाषा खोने या उनका सहयोग खोने में से एक को चुनने के लिए कहते हैं'। यह धमकी किसकी ओर से आई, यह स्पष्ट नहीं हो पाता।

ऐसा जाहिर होता है कि आचार्य शुक्ल सरकारी कामकाज में उर्दू के दखल से बहुत व्यथित थे। हिंदी साहित्य के इतिहास को 1940 में संशोधित-परिवर्द्धित करते वक्त उसमें उन्होंने इस बात का खास जिक्र रखाः ''मुसलमानों की ओर से इस बात का घोर प्रयत्न हुआ कि दफ्तरों में हिंदी न रहने पाए, उर्दू चलाई जाए। एक वर्ष बाद ही अर्थात संवत् 1894 (सन 1837) में उर्दू हमारे प्रांत के सब दफ्तरों की भाषा कर दी गई।... हिंदी को अदालतों से निकलवाने में मुसलमानों को सफलता हो चुकी थी। अब वे इस प्रयत्न में लगे कि हिंदी को शिक्षाक्रम में भी स्थान न मिले, उसकी पढ़ाई का भी प्रबंध न होने पाए।''

उर्दू समर्थकों के प्रयत्नों को शुक्लजी ने दफ्तरों-अदालतों में उर्दू के प्रवेश की एक साजिश की तरह देखाः ''... सर सैयद अहमद एक मजहबी नुस्खा काम में लाए। अंगरेजों को सुझाया गया कि हिंदी (उन) हिंदुओं की जबान है जो 'बुतपरस्त' हैं और उर्दू (उन) मुसलमानों की जिनके साथ अंगरेजों का मजहबी रिश्ता है- दोनों 'सामी' या 'पैगंबरी' मत के मानने वाले हैं।''

यह मानना भूल होगी कि आचार्य हिंदी के कामकाजी या रोजगार-स्वरूप को लेकर चिंतित थे। लगता है संस्कारी हिंदी को वे कहीं बहुत गहरे 'हिंदूपन' (उन्हीं का शब्द) और भारत की राष्ट्रीयता से जोड़कर देखते थे। जिन साहित्यकारों पर उन्होंने सविस्तार लिखा उनमें भारतेंदु हरिश्चंद्र प्रमुख थे। वे कहते थे, भाषा का निखरा हुआ सामान्य रूप भारतेंदु की कला के साथ ही प्रकट हुआ। यह बात दूसरी है कि भारतेंदु अपने नाटकों में अरबी-फारसी-तुर्की के शब्द भी बरतते थे, जिन्हें परिष्कृत हिंदी के समर्थक सायास अपने से दूर रखते थे। हालांकि शुक्लजी के मुताबिक बाबू हरिश्चंद्र ने ऐसा 'बहुत कम' किया।

बाबू हरिश्चंद्र के काव्य पर आचार्य इसलिए मोहित थे क्योंकि उसमें 'हिंदूपन' और 'स्वदेशाभिमान और स्वदेश प्रेम' था। ''देश के प्राचीन गौरव को स्मरण कराके उसके एक-एक यशस्वी महापुरुष का नाम लेकर उसकी (देश की) वर्तमान दुरवस्था पर आंसू बहाने के लिए तो ये (भारतेंदु) आए ही थे।'' आचार्य बताते हैं कि भारतेंदु मिस्र से लौटी हिंदुस्तानी सेना की बड़ाई करने और सरकार को बधाई देने चले, पर बीच में 'भारत का भूत' सवार हो गया।

उनकी कविता की बड़ा भावुक व्याख्या करते हुए वे कहते हैः ''उन ऐतिहासिक स्थलों और घटनाओं को स्मरण कराने से यह कवि कब चूकता। जिनके नाममात्र हिंदू संतान के लिए कविता है। कविता वही जिससे चित्त किसी आवेग में लीन हो जाय। कौन ऐसा इतिहासविज्ञ भारत संतान होगा जिसका रक्त पानीपत, थानेश्वर, चित्तौर, रणथंभौर आदि का नाम सुनते ही चंचल न हो उठे। कौन ऐसा स्तब्ध और जड़ हिंदू होगा जिसके हृदय में इन नामों को सुनते ही अनेक प्रकार के भाव न उठने लगें। यदि कोई कवि इन दो चार नामों को केवल एक साथ ले ले तो वह अपना काम कर चुका।... अब देखिए इन नामों को भारतेंदु ने किस प्रकार लिया हैः

हाय पंचनद! हा पानीपत!
अजहुं रहे तुम धरनि बिराजत ।।... ''

कोई बारह वर्ष बाद, 1922 में, 'माधुरी' पत्रिका में 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' लेख में आचार्य शुक्ल ने फिर लिखाः ''हिंदूपन की अंतिम झलक दिखानेवाले थानेश्वर, कन्नौज, दिल्ली, पानीपत आदि स्थान उन गंभीर भावों के आलंबन हैं जिनमें ऐतिहासिक भावुकता है, जो देश के पुराने स्वरूप से परिचित हैं, उनके लिए इन स्थानों के नाम ही उद्दीपन स्वरूप हैं। इन्हें सुनते ही उनके हृदय में कैसे कैसे भाव जागृत होते हैं वे नहीं कह सकते। भारतेंदु का इतना ही कहना उनके लिए बहुत है कि-

हाय पंचनद! हा पानीपत!
अजहुं रहे तुम धरनि बिराजत?
हाय चितौर! निलज तू भारी,
अजहुं खरो भारतहि मंझारी।

पानीपत, चित्तौर, कन्नौज आदि का नाम सुनते ही भारत का प्राचीन हिंदू दृश्य, आंखों के सामने फिर जाता है।...''

(जारी)